कितना गहरा और खोदें

अरुंधन्ती राय

नव उदारवाद और हिन्दू राष्ट्रवाद के बीच परस्पर विरोध में फंसे इस देश की गाथा।

अभी हाल में एक नौजवान काश्मीरी मुझसे काश्मीर के संबंध में बात कर रहा था। बातें राजनीतिक अवसरवाद पाखंडी आचरण, सुरक्षा बलों द्वारा किए जा रहे नृशंस अत्याचार, और ऐसे समाज की रचना के बारे में थी, जो हिंसा में डूबी हुई है। जहां पुलिस, सैन्य अधिकारी, खुफिया अधिकारी, सरकारी कर्मचारी यहां तक कि पत्रकार भी एक दूसरे का मुकाबला कर रहे हैं। धीरे-धीरे जैसे समय बीतता जा रहा है सभी एक-दूसरे के विरुद्ध होते जा रहे हैं। वह एक ऐसी जिन्दगी जी रहा है जो अंतहीन हत्याओं, लोप होते जाते लोग, डरावनी आवाजों, न सुलझती अफवाहों से घिरी हुई है। जो कुछ यथार्थ में घट रहा है उसका समझदारी से कोई संबंध नहीं है।

काश्मीरी यह जानते हैं कि बहुत कुछ घट रहा है और काश्मीर के बाहर केवल यह कहा जाता है कि कुछ घट रहा है। काश्मीर एक मुद्दा था पर अब यह एक पागलखाने से कुछ ज़्यादा नहीं।

युवक के इस बयान के बारे में यदि सोचा जाए तो यही

लगता है कि भारत में जो कुछ हम लोग सोचते हैं, यह सब उस बयान का उल्टा है। यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जितना भी सोचा जाए उतना ही यह लगता है कि काश्मीर और उत्तरपूर्व इस पागलखाने के दो वार्ड हैं। लेकिन, मुख्य भूमि पर जो भी ज्ञान और सूचना उपलब्ध है जो जानते हैं, और हमें जो कहा जाता है, हम जो नहीं जानते और जिसके उत्तर दिए जाते हैं, जो कुछ छिपाया जाता है और जो कुछ प्रकट किया जाता है, तथ्य और अनुमान, यथार्थ में जो दुनिया मौजूद है–के बीच बड़ा अंतर है। यह सब कुछ अंतहीन अनुमानों और संभावनाओं तथा सही समझ की संभावना के प्रतीक है। सबकुछ जहरीला काढ़ा है, जिसे हिलाया जा रहा है, घोला जा रहा है और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए सभी सही सोचने वाले लोगों को यह काढ़ा पिलाया जा रहा है।

हर बार जब तथाकथित आतंकवादी हमला होता है, सरकार बिना किसी छानबीन या सूचना के, गुस्से में दोषी को ढूंढ़ने की कोशिश करती है। गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस का जलाया जाना, संसद पर 13 दिसंबर का हमला और चित्रासिंह पुरा में आतंकवादियों द्वारा सिखों की हत्या, कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं। इन सभी मामलों में जो तथ्य उभरकर आए, उससे उठने वाले सवाल काफी परेशान करने वाले थे और इसीलिए इन सबको ठंडे बस्ते में पटक दिया गया। गोधरा के मामले को लीजिए, गृहमंत्री ने कहा कि यह आईएस आई द्वारा षड्यंत्र था। विश्व हिंदू परिषद का कहना है कि यह मुस्लिम भीड़ का हमला था, जिसने पैट्रोल बंब फेंका था। गंभीर प्रश्न अभी भी अनुत्तरित हैं। ये सब कथन अंतहीन अनुमान है। प्रत्येक व्यक्ति उस पर विश्वास कर रहा है, जो उसके विश्वास की अनुसार है। सारी घटना को एक सनकी परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास है, जिसका एक परिणाम यही है कि सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहा है।

ग्यारह सितंबर के हमले के बाद अमेरिकी सरकार ने झूठ और गलत सूचनाओं का सहारा लिया और उसी आधार पर कम से कम दो राष्ट्रों पर हमला कर उस पर कब्जा कर लिया। ईश्वर जाने, अब अमेरिका के दिमाग में और कौन-कौन है।

भारत सरकार भी ऐसा ही कर रही है। अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध नहीं, स्वयं अपने लोगों के ख़िलाफ़।

पिछली दशाब्दी में पुलिस और सेना द्वारा मारे गए लोगों की संख्या दसियों हज़ारों में हो गई है। अभी हाल में बंबई के एक बड़े पुलिस अधिकारी ने प्रेस से कहा था कि आदेश मिलने पर कितने गैंग के लोगों का उसने सफाया कर दिया। आंध्रप्रदेश पुलिस का अनुमान है कि वह प्रत्येक वर्ष लगभग 200 प्रतिवादियों का सफाया करती है। काश्मीर में युद्ध जैसी स्थिति है। 1989 से अब तक लगभग 89000 लोग मारे जा चुके हैं। हजारों लोग लापता हो गए हैं। लापता लोगों के अभिभावकों की समिति के रिकार्ड के अनुसार सन् 2003 में लगभग 3000 लोग मारे जा चुके हैं। इनमें से 463 सैनिक थे। 2002 में मुफ्ती मोहम्मद सईद की सरकार के आने के बाद, जिसका वादा था कि वह दुखते घावों पर मरहम लगाएगी 54 मौतें पुलिस थाने में हुई हैं। इस सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रवाद में, गैंग के सदस्य, आतंकवादी, देशद्रोही, राष्ट्र विद्रोह के नाम पर आप किसी को भी मार सकते हैं, इनको मारने वाले लोग देश और स्वाधीनता के रक्षक हैं, और यह सबकुछ उन्होंने राष्ट्र हित में किया है। इस काम के लिए उन्हें किसी को उत्तर नहीं देना।

लोगों को तंग करने और आतंकित करने के लिए भारत सरकार ने अपने प्रयत्न पोटा कानून बनाकर संस्थागत कर दिए हैं। दस राज्यों में इसको लागू किया गया है। यदि पोटा के प्रावधानों को ध्यान से देखा जाए तो यह कानून दमनकारी और अज्ञात लोगों पर अत्याचार का कानून है। यह कानून अन्य कानूनों से इसलिए भिन्न है कि यह किसी भी व्यक्ति पर लागू हो सकता है। किसी अलकायदा जैसी संस्था द्वारा ले जाए जा रहे विस्फोटक पदार्थों से लेकर नीम के पेड़ के नीचे बैठे बांसुरी बजा रहे किसी आदिवासी पर, मुझ पर और आप पर। पोटा कानून की सबसे बड़ी बौद्धिकता यह है कि जैसा सरकार चाहती है वैसा ही होना चाहिए। हम लोग उन लोगों

द्वारा प्रताड़ित हो रहे है जो हम पर शासन कर रहे हैं। तमिलनाडू में राज्य सरकार की जो आलोचना करता है उस पर पोटा लगा दिया जाता है। झारखंड में 3200 व्यक्ति, जो अधिकांशतः गरीब हैं और जिनके ऊपर माओवादी होने का आरोप है–के खिलाफ पोटा में प्राथमिकी दर्ज कराई गई है। पूर्वी उत्तरप्रदेश में यह कानून उन लोगों पर लागू किया गया है जो अपने जीवन के अधिकार के लिए, अपनी भूमि के हड़पे जाने का विरोध कर रहे हैं। गुजरात और मुंबई में यह कानून केवल मुसलमानों के विरुद्ध प्रयोग किया जा रहा है। 2002 के बाद गुजरात में राज्य द्वारा समर्थित कार्यवाहियों में लगभग 200 मुसलमान मारे गए हैं और 150000 लोगों को उनके घर से भगा दिया गया है। 287 व्यक्तियों पर पोटा कानून लगाया गया है इनमें 286 मुसलमान और एक सिक्ख है। पुलिस की हिरासत में लिया गया बयान पोटा कानून के अंतर्गत न्यायिक साक्ष्य है। पोटा कानून के अंतर्गत पुलिस मामला पता लगाने की बजाय व्यक्तियों को सताती है। अधिकारियों को लगता है कि यह सबसे सरल त्वरित और तात्कालिक परिणाम देने वाला कार्य है।

पिछले महीने मैं पोटा पर बनी जनसमिति की सदस्या थी। दो दिनों में मैंने बहुत से लोगों की गवाहियां सुनी। ये गवाहियां हमारे अद्भुत प्रजातंत्र की गवाहियां थीं। मैं आश्वस्त करना चाहूंगी कि हमारे पुलिस थानों में हर चीज चलती है। लोगों को अपना मूत्र पीने के लिए विवश किया जाता है। लोगों को नंगा कर बेइज्जत किया जाता है। बिजली के तारों से झटके लगाए जाते हैं। जलती सिगरेटों से जलाया जाता है। जांघों के बीच में लोहे की छड़ घुसेड़ी जाती है और मौत होने तक उन्हें पीटा और ठोकरें मारी जाती हैं।

पोटा अदालतें जनता के लिए खुली हुई नहीं है और ना ही इन अदालतों की कोई जनसमीक्षा है। पोटा, अपराध कानून के आधार पर नहीं चलता है। साधारण कानून का मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति जब तक सिद्ध नहीं होता तब तक अपराधी नहीं। पोटा में आपकी तब तक जमानत नहीं हो सकती जब तक आप अपने आपको निरपराध घोषित न किया जाए। तकनीकी दृष्टि से हम लोग एक राष्ट्र हैं। एक ही राष्ट्र में किसी अपराधी के साथ दो प्रकार का व्यवहार है। ऐसा करना गलत है फिर भी हमें निरंतर यह विश्वास दिखाया जाता है कि पोटा का दुरुपयोग उसी तरह से हो रहा है जिसके लिए यह बनाया है। यदि मलिमठ कमीशन के सुझावों को मान लिया जाए कि बहुत से प्रावधान अपराध कानून के अंतर्गत स्वीकार कर लिए जाए तो पोटा कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं।

जम्मू और कश्मीर तथा उत्तरपूर्वी राज्यों में सैनिक विशेष शक्ति कानून इस बात की गारंटी देता है कि कमीशंड एवं नॉन कमीशंड ऑफिसर्स ताकत का इस्तेमाल कर सकते हैं। यहां तक कि सार्वजनिक व्यवस्था के प्रति आंखें मूंदकर हथियारों को ले जाने पर किसी की जान भी ले सकते हैं। इस देश में रहने वाले को कोई शक्ति नहीं है। इसका अर्थ क्या है? पीड़ा, लापता होना, थानों में मौत, बलात्कार और सामूहिक बलात्कार सेना के जवानों तथा अधिकारियों द्वारा किए गए पाप कानून के अंतर्गत जायज हैं। सत्यता यह है कि इन सबके बावजूद हिंदुस्तान के प्रजातंत्र की इज्जत बढ़ी है। अंतरराष्ट्रीय समुदाय में यह एक वैध प्रजातंत्र है। हिंदुस्तान के मध्यम वर्गों के लिए यह सम्माननीय और प्रजातंत्र में ऐसा होना जरूरी है।

सशस्त्र सेनाओं को विशेष शक्तियों को देने का कानून लॉर्ड लिनथिनगो द्वारा 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन को कुचलने के लिए पास किए गए अध्यादेश का और भी भयानक स्वरूप है। 1958 में मणिपुर पर ऐसा कानून तब लागू किया गया था जब उसे संवेदनशील घोषित किया गया। 1965 में मिजोरम जो उस समय असम का भाग था, को भी संवेदनशील घोषित किया गया था। 1972 में इसे त्रिपुरा में लागू किया गया और 1980 में संपूर्ण मणिपुर को इस कानून के अंतर्गत लाया गया। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि दमनकारी कदम हमेशा उल्टे सिद्ध होते हैं और केवल समस्याओं

को ही जन्म देती हैं।

यंत्रणा तथा दमनकारी कानूनों का प्रभाव विचित्र है। ये कानून मुकदमे के समय तथ्यों के परीक्षण की ओर नहीं जाते। यह अच्छे साक्ष्य भी उत्पन्न नहीं करते। 1984 में जब 3000 सिखों की हत्या हुई थी, 1993 में मुंबई में जब मुस्लिमों का कत्लेआम हुआ था और 2002 में जब गुजरात के मुसलमान मारे गए तब से अब तक एक भी आदमी को सजा नहीं मिली है। कुछ साल पहले जवाहर लाल नेहरू वि.वि. के अध्यक्ष चंद्रशेखर की हत्या, बारह साल पहले छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चे के अध्यक्ष शंकर गुहा नियोगी की हत्या कुछ अन्य उदाहरण हैं। इन घटनाओं में प्रत्यक्ष प्रमाण और अपार साक्ष्य, इस बात को बताते हैं कि असली मामला क्या है—राज्य यह समझता है कि साक्ष्य पूरे नहीं है। सारे राज्य की मशीनरी वस्तुतः पीड़ितों के विरुद्ध काम करती है।

इस बीच अर्थव्यवस्था के लिए उद्योग घरानों से पोषित समाचार पत्र यह चिल्ला रहे हैं कि सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि वर्तमान में अद्‌भुत है। दुकान उत्पादन वस्तुओं से भरी पड़ी है। सरकारी भंडार अन्न से भरपूर हैं। इन बयानों से परे किसान कर्ज में डूबे हुए हैं और सैकड़ों की संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। सारा देश भूख से मौत और कुपोषण का शिकार है। फिर भी सरकार के गोदामों में 63 मिलियन टन अन्न जमा किया, 12 मिलियन टन का निर्यात किया गया और यह निर्यात कम कीमत में किया गया। इन सबके बावजूद सरकार गरीबों को अन्न नहीं दे सकी। प्रसिद्ध कृषि अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने कहा है कि हिंदुस्तान में अन्न की उपलब्धता लगभग एक शताब्दी तक पर्याप्त है। यह सरकारी आंकड़ों के आधार पर कहा गया है। 1990-2000 के बीच अन्न की खपत द्वितीय विश्व युद्ध के जमाने के बराबर कम स्तर पर आ पहुंची है। उस जमाने में पश्चिम बंगाल में भूख से 3 मिलियन आदमी मरे थे। प्रो. अमर्त्य सेन का कहना है कि प्रजातंत्र में भूख से हुई मौतों को हल्केपन से नहीं देखा जाना चाहिए। स्वतंत्र प्रेस के अनुसार ये तथ्य प्रजातंत्र विरोधी कथन हैं।

कुपोषण और स्थायी भूख इन दिनों में बहुत ही खतरनाक स्तर पर है। उत्सा पटनायक का अध्ययन इस बात की ओर संकेत करता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में 40 प्रतिशत लोगों में अन्न की खपत सब सहारा अफ्रीका के बराबर है। हिंदुस्तान में 3 साल से नीचे के बच्चों में 47% बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। 1990 के मुकाबले एक औसत ग्रामीण परिवार अब लगभग 100 किलो ग्राम अन्न खाता है जो आवश्यकता से कम है। भारत की स्वाधीनता के बाद पिछले पांच वर्षों में ग्रामीण और नगरीय आय के बीच में असमानता बहुत अधिक बढ़ी है।

लेकिन नगरीय भारत में जहां भी आप जाएं वहां दुकानें हैं, रेस्टोरेंट है, रेलवे स्टेशन है, हवाई अड्डे हैं, जिमनेजियम है, अस्पताल है। आपके पास टीवी है जिसके माध्यम से चुनाव के अनुमान आपके पास पहले से पहुंच जाते हैं। भारत चमक रहा है। आप अच्छा महसूस कर रहे हैं। यह सबकुछ आनन्द पुलिसमेन के किए गए कारनामों को आपके कानों तक नहीं पहुंचने देते। आपको केवल अपनी आंखें उन सुंदर दृश्यों पर जमाई रखनी पड़ती है जो टीवी में आते हैं, गंदी बस्तियां, पीड़ित और टूटे हुए व्यक्ति, गलियों के व्यक्ति और बीमारों को एक ऐसा टीवी चाहिए जो उनका मित्र हो। बालीवुड की चमकीली धमकीली दुनिया, समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों और आनंद से भरे हुए तिरंगे को मंत्रियों द्वारा फहराते हुए लोगों को देखना अच्छा महसूस कराने के बराबर है। दिन प्रतिदिन यह कहना मुश्किल होता जा रहा है कि वास्तव में दुनिया क्या है, एक सही दुनिया क्या है। पोटा की तरह के कानून टीवी के बटन की तरह है जिसका प्रयोग गरीबों, अनचाहे और उत्पात मचाने वालों के विरुद्ध हो रहा है।

भारत में एक नए तरीके के अलगाववादी आंदोलन पनप रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या हमें इन्हें अलगाववादी आंदोलन कहना चाहिए। ये आंदोलन पुराने अलगाववादी आंदोलनों की जड़ों से ही पनपे हैं। यह तब हो रहा है जबकि लोग एक बिल्कुल अलग तरह की अर्थव्यवस्था, अलग राष्ट्रीय

भावना और संपूर्ण विश्व के साथ जुड़कर कह रहे हैं कि वे एक हैं। यह तब होता है जबकि जनसंख्या का एक छोटा हिस्सा बहुत अधिक धनाढ्य हो जाता है। यही छोटा हिस्सा स्वतंत्रता, अभिमान, मूलभूत अधिकार और यहां तक कि विरोध का अधिकार भी अपने हाथों में ले लेता है। ये सब कार्य लोगों के बड़े समूहों के माध्यम से होना चाहिए पर धनाढ्य वर्ग का उस पर भी कब्जा है। यथार्थ में यह संरचनात्मक दोष है जो हिंदुस्तान को विभाजित कर रहा है। भारत की चमक भारत तथा सार्वजनिक उद्योगों से मिल-जुलकर बनी चमक है। शेष भारत का इसमें कहीं पता नहीं है।

इस प्रकार के अलगाव में सार्वजनिक आंतरिक संरचना, उत्पादनशील सार्वजनिक संपत्ति जैसे पानी, बिजली, यातायात, टेली संचार व्यवस्था, स्वास्थ्य सेवाएं, शिक्षा, प्राकृतिक साधन इस बात पर जोर देते हैं कि इनका उपयोग देश के नागरिकों के साथ विश्वास के आधार पर किया जाना चाहिए। यह उन संपत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो दशताब्दियों से जनता के धन और जनता की शक्ति से निर्मित किए गए हैं। अब इस सार्वजनिक संपत्ति को उद्योगपतियों को बेचा जा रहा है। हिंदुस्तान की जनता का 70 प्रतिशत हिस्सा 700 मिलियन लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं उनकी जीविका का मुख्य आधार प्राकृतिक स्रोतों पर निर्भर है। इन प्राकृतिक स्रोतों को छीन लिया जाय और प्राइवेट कंपनियों को बेच दिया जाय तो इससे वह वंचना प्रारंभ होगी और वह गरीबी शुरू होगी जो सामाजिक बर्बरता के बराबर है।

इंडिया प्राइवेट लिमिटेड अब कुछ कार्पोरेशन्स के हाथों में जाने को तैयार है और धीरे-धीरे यह मल्टीनेशनल्स बाज़ारों में चली जायगी। भारत की आंतरिक संरचना का संचालन अब कारपोरेट अधिकारी करेंगे और भारत में उपलब्ध स्रोतों का उपयोग भी ये कंपनियां करेंगी। हिंदुस्तान में मीडिया और पत्रकार जनता के प्रति उत्तरदायी होने चाहिए पर अब कानूनी रूप में, सामाजिक रूप में, नैतिक रूप में और राजनैतिक दृष्टि से वे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे। वे अपनी प्रकाशन कंपनियों के प्रति उत्तरदायी होंगे। कुछ दिनों इन कंपनियों के सीईओ प्रधानमंत्री से भी शक्तिशाली होंगे। प्रधानमंत्री तक यह नहीं जान पाएंगे वे स्वयं क्या कह रहे हैं?

इन सबसे अलग आर्थिक मुद्दों को यदि हम छोड़ भी दें तो जिस प्रकार की चर्चा हो रही है और जिस प्रकार की क्षमता, कार्यकुशलता एवं आश्चर्यजनकता को प्रकट किया जा रहा है (जो यथार्थ नहीं है) क्या उनकी राजनीति दृष्टि हमको स्वीकार्य है? यदि भारत अपने उत्तरदायित्वों को कुछ कार्पोरेशन्स को देने को तैयार हैं तो क्या इसका अर्थ यह है कि चुनावी प्रजातंत्र का रंगमंच और थिएटर जो हमारे चारों तरफ फैल रहा है क्या संपूर्ण रूप से अर्थहीन है और क्या इसके पास कोई भूमिका है जिसे यह अदा कर सके।

मुक्त बाजार (जो वास्तव में मुक्त नहीं) कहा जाता है कि राज्य की आवश्यकता है। जैसे-जैसे गरीब और अमीर के बीच की खाई बढ़ती जा रही है और जैसे-जैसे गरीब देशों के राज्यों को उनके कल्याण कार्यों में कटौती करनी पड़ रही है, कार्पोरेशन राज्य के लिए उन्हीं कार्यों को करने की पेशकश कर रहा है। इससे उन्हें बहुत फायदे हैं। उनके प्रोजेक्ट और ऐसे कार्य राज्य की मशीनरी के बिना सम्पन्न नहीं हो सकते। वैश्विक कार्पोरेशन साम्राज्य को ऐसे महासंघ चाहिए जो निष्ठावान हो, भ्रष्ट हो, तानाशाह हो और जो गरीब देशों पर राज्य करते हो। गरीब देशों के माध्यम से ही अलोकप्रिय सुधार किए जा सकते हैं। इसी को कारपोरेट साम्राज्य अच्छे निवेश वातावरण तैयार करने का नाम देते हैं।

जब हम चुनावों में वोट देने जाते हैं तो यथार्थ में उस राजनैतिक दल को मत देते हैं जो धमकी देने वाले और दमनकारी राज्य की शक्तियों को बल दे सके। हाल फिलहाल भारत में हमको उन खतरनाक शक्तियों जैसे नवउदारवादी पूंजीवाद सांप्रदायिक नव फासीवाद के बीच अपने आपको संभालना पड़ेगा। अभी पूंजीवाद पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुआ है। जब हम फासीवाद का नाम लेते हैं तो उससे अपराधबोध होता है। हमें अपने आपसे पूछना चाहिए कि क्या हम इन

शब्दों का प्रयोग ढीलेपन से कर रहे हैं? क्या हम अपनी परिस्थितियों को बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे हैं, और क्या हम अपने जीवन की गुणवत्ता को दैनिक आधार पर फासीवाद से जोड़ रहे है।

जब सरकार कमोबेश खुले तौर पर किसी अल्पसंख्यक समुदाय के खिलाफ किसी कार्यक्रम को सहयोग देती है और जिस कार्यक्रम में 2000 लोग क्रूरता से मारे जाते हैं, क्या यह फासीवाद है? जब औरतों का सार्वजनिक रूप में बलात्कार किया जाता है और उन्हें जिंदा जला दिया जाता है क्या यह फासीवाद है? और जब अधिकारी यह कहते हैं कि किसी को इन अपराधों की सजा न मिले क्या यह फासीवाद है? जब 150000 व्यक्ति अपने घरों से निकाल दिए जाते हैं, उनको खेतों में भेज दिया जाता है और सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से बहिष्कृत कर दिया जाता है क्या यह फासीवाद है? क्या वे सांस्कृतिक गिल्ड जो देश में घृणा फैलाने के कैंप चलाते हैं और जो प्रधानमंत्री द्वारा शाबाशी पाते हैं तथा गृहमंत्री, कानून मंत्री, और विनिवेश मंत्री के कृपा पात्र हैं क्या वह फासीवाद है? चित्रकार, लेखक विद्वान और फिल्म निर्माता जो इसका विरोध करते हैं उनको गालियां दी जाती हैं, धमकी दी जाती है, उनकी कृतियों को जला दिया जाता है, प्रतिबंधित कर दिया जाता है और नष्ट कर दिया जाता है क्या यह फासीवाद है? जब सरकार एक फरमान जारी करती है कि स्कूलों में इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में संशोधन किया जाएगा क्या यह फासीवाद है? जब भीड़ इकट्ठा कर, प्राचीन ऐतिहासिक दस्तावेजों को पुरातत्व संग्रहालयों, मध्ययुगीन इतिहास पर लिखने वाले लेखकों जिनकी विद्वता में कोई संदेह नहीं है– को लोकप्रिय लगने वाली बातों के माध्यम से पछाड़ा जाता है क्या यह फासीवाद है? बलात्कार और भीड़तंत्र को जब सत्तारूढ़ दल से प्रोत्साहन मिलता है, जिन पर ऐतिहासिक गलतियों को सुधारने का उत्तरदायित्व है और जो लोग शताब्दियों पहले से गलतियों को सुधारने का काम कर रहे हैं उनके विरुद्ध आंदोलन क्या फासीवाद है? मध्यमवर्ग और अच्छे संपन्न व्यक्ति दूसरों का शोषण करते हैं, और पक्षपात करके आगे निकल जाते हैं तथा केवल अपने जीवन की चिंता करते हैं क्या यह फासीवाद है? और जब किसी प्रधानमंत्री को जो इन सब गतिविधियों को संरक्षण देता है और जिसको महान नेता और दूरद्रष्टा कहा जाता है तथा जिसे पूजा जाता है–क्या हम किसी यथार्थ फासीवाद की नींव नहीं रख रहें?

दबे और कुचले लोगों के इतिहास का लेखा-जोखा होना शेष रह गया, यह जिम्मेदारी केवल सवर्णों को नहीं है। अगर ऐतिहासिक भूलों का बदला लेना ही राजनीति है तो निश्चित ही भारत के दलित और आदिवासियों को हत्या, लूटपाट और विध्वंश करने का अधिकार है?

रूस में कहावत है कि भूतकाल गैर भविष्यवाणी वाला है। हाल ही में स्कूली इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से हमने जानना प्रारंभ किया है कि भूतकाल क्या है और वह कितना सत्य है? सभी छद्म धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों को इस उम्मीद में छोड़ दिया गया है, कि बाबरी मस्जिद के नीचे पुरावशेष की खुदाई के नीचे राम मंदिर के अवशेष नहीं मिलेंगे। लेकिन यदि यह मान भी लिया जाए कि भारत की प्रत्येक मस्जिद के नीचे एक मंदिर है तो फिर मंदिरों के नीचे क्या है? संभवतः एक और हिंदू देवता का मंदिर? संभवतः एक बौद्ध स्तूप? एक आदिवासी स्मारक? हिंदू समर्थकों ने ऐसा किया है? हम कितना पलटते जाए? ऐसा क्यों है कि मुस्लिम जो सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से संपूर्ण भारत की विधाओं में रचे हुए हैं, बाहरी और आक्रमणकारी कहे जाते हैं, और सारे राजनीतिक-सामाजिक हमले उन पर होते हैं। सरकार शताब्दियों से हो रही औपनिवेशक प्रक्रियाओं की तरह विकास के लिए, सहायता लेने के लिए और व्यापार के लिए कारपोरेट समूहों और अन्य देशों से सहायता के लिए हस्ताक्षर कर रही है। 1876 और 1892 में हजारों भारतवासी भूख के शिकार होकर मरते रहे पर ब्रिटिश सरकार खाद्य सामग्री तथा कच्चा माल इंगलैंड को भेजती रही। ऐतिहासिक दस्तावेज उस समय भारत में भूख से मरे व्यक्तियों की संख्या क्रमशः 12 और 29

मिलियन बताते हैं। यह संख्या बदले की राजनीति के आसपास होनी चाहिए। बदले की राजनीति क्या एक आनंद है जिसमें किसी को भी मारना या लक्ष्य बनाना सुविधाजनक है। फासीवाद कठिन मेहनत का काम है और अच्छे निवेश वातावरण को तैयार करने के लिए भी कठोर श्रम की आवश्यकता हैं?

यह बड़ा मनोरंजक तथ्य है कि जिस समय वित्तमंत्री के रूप में मनमोहन सिंह हिंदुस्तान के बाजारों को नवउदारवाद के लिए तैयार कर रहे थे, लालकृष्ण अपनी पहली रथ यात्रा निकालकर, सांप्रदायिक तनाव फैलाकर नव फासीवाद लाने की तैयारी कर रहे थे। दिसंबर 1992 में उन्मादी भीड़ ने बाबरी मस्जिद ढहा दी थी। 1993 में महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार ने एनरोन से बिजली खरीद के समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। यह पहली प्राइवेट विद्युत परियोजना थी। बाद में यह समझौता घातक सिद्ध हुआ। इस हस्ताक्षर से भारत में निजीकरण का दौर प्रारंभ हुआ। अब जब कांग्रेस किनारे कर दी गई है, डंडा भाजपा के हाथों में है सरकार दो मुंही वाद्यवृन्द का अद्भुत रूप से संचालन कर रही है। एक हाथ से राष्ट्र की संपत्ति और स्त्रोतों का विक्रय हो रहा है और दूसरा हाथ चीख पुकार वाले माहौल में, इन सब चीज़ों से ध्यान हटाने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद बेच रहा है। एक हाथ क्रूरता और दूसरा हाथ पागलपन को शह दे रहा है।

आर्थिक दृष्टि से भी यह दुहरा वाद्यवृन्द सरीखा प्रारूप है। बिना किसी भेदभाव के होने वाले निजीकरण से होने वाला लाभ हिंदुत्व की फौजों—राष्ट्रीय सेवक संघ, विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल तथा ऐसे ही अन्य लोगों के लिए विशाल वित्तीय स्त्रोत हैं। ट्रस्ट, दक्षशालाओं, संस्थाओं का एक जाल सा बिछ गया है, जिसमें स्कूल, अस्पताल, तथा अन्य सामाजिक सेवाएं इन संस्थाओं के केंद्र हैं। दसियों, हजारों शाखाएं सारे देश में फैली हुई हैं। ये शाखाएं घृणा तथा कुंठाओं का प्रसार कर रही हैं जिनके ऊपर भविष्य में नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। यहीं गतिविधियां लोगों में हताशा और अस्तित्व की कमी पैदा कर रही है। वैश्वीकरण के प्रोजेक्ट गरीबों में हिंसा पैदा कर रहे हैं और इनसे उठने वाला धुआं राजनीतिक शक्ति को बनाए रखे हुए है तथा इसे किसी भी चुनौती से बचाए हुए हैं। लोगों को कुंठाओं के माध्यम से हिंसा को प्रेरित करना हमेशा अच्छे निवेश के वातावरण को पैदा नहीं करता। राज्य को इनके बीच हस्तक्षेप करना ही पड़ता है।

अभी हाल के वर्षों में पुलिस ने निहत्थे व्यक्तियों पर गोलियां चलाई। ये लोग ज्यादातर या तो आदिवासी थे या शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारी। नागरमार, झारखंड, मेंहदी खेड़ा (मध्यप्रदेश), उमर गांव (गुजरात) रापगारा और चिल्का (उड़ीसा) मंहागा (केरल) इन सभी जगहों पर पुलिस की गोलियों से लोग मरे हैं।

लगभग ऐसी हर जगह पर जो लोग मरे हैं उन्हें लड़ाकू कहा गया है (पीपुल्स वार ग्रुप, एम. सी. सी., आई. एस. आई, एल. टी. टी. ई.) यह दमन बढ़ता ही जा रहा है।

जब बेकसूर लोग बेकसूरी का दावा करते हैं तो उन्हें आतंकवादी कहा जाता है और पोटा जैसे कानून के अंतर्गत उनके ऊपर मुकदमा चलता है। यह कानून प्रतिरोध आवश्यकताओं को रोकने की कोशिश करता है। इस वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ ने 181 देशों में आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में मानव अधिकारों की रक्षा के लिए अपना मत दिया था। यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भी अपना मत पक्ष में दिया था। भारत इसमें तटस्थ रहा। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस बात की चर्चा की जाय कि राज्य मानवअधिकारों का कैसे हनन कर रहा है।

सवाल यह है कि आम आदमी राज्य की बढ़ती हुई इस हिंसात्मक गतिविधि का मुकाबला कैसे कर सकता है।

अहिंसक सत्याग्रह की संभावनाएं अब समाप्त होती जा रही हैं। पिछले कई सालों में जिन लोगों ने अहिंसक सत्याग्रह किया है उनको कोई परिणाम नहीं मिला है और ऐसे आंदोलनकारी अब दिशा परिवर्तन की बात सोचने लगे हैं। उनके सामने अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार की दिशा अब स्वीकार की

जाय? कुछ लोगों का विचार है कि अब केवल हिंसा का रास्ता बचा है। दूसरे लोग यह सोचने लगे हैं कि चुनावी राजनीति के माध्यम से व्यवस्था में शामिल हुआ जाए और अंदर जाकर समझौते किए जाय। (क्या कश्मीर में लोगों ने यह स्वीकार नहीं किया) यहां यह बात याद रखने वाली है कि जहां दोनों पद्धतियां एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत है उन दोनों का विश्वास यही है कि अब बहुत हो गया अब कुछ ना कुछ किया जाना चाहिए।

भारत में इस बात के ऊपर कोई बहस नहीं हो रही कि जो कुछ हो रहा है उसके परिणाम अच्छे होंगे या बुरे। क्या इस देश की गुणवत्ता बदलने वाली है चाहे वह गरीब की हो या अमीर की, ग्रामीण क्षेत्रों की हो या नगरीय क्षेत्रों की।

संघर्ष हिंसा को जागृत करता है और यह हिंसा राज्य की हिंसा भी होती है। उत्तरपूर्वी राज्यों तथा कश्मीर में हमने इसे देखा है। तो हमें क्या करना चाहिए। जो प्रधानमंत्री सुझाव देते हैं वह मान लें। हम लोग प्रतिरोध छोड़ दें और चुनावी राजनीति में हिस्सा लें? इस तरह क्या हम लोग सड़क के तमाशे का हिस्सा बन जाए। बुरी तरीके से विभाजित आदान-प्रदान अर्थहीन है। किसी भी प्रकार से यदि तथ्यों को छुपाया जाय (जिसके प्रति अन्यथा हम लोग चैतन्य है) तो यह एक अपमानजनक स्थिति है। प्रमुख मुद्दों को हमें भूल नहीं जाना चाहिए। अणुबम, बड़े बांध, बाबरी मस्जिद, और निजीकरण जैसे विवादास्पद मुद्दों के बीज कांग्रेस ने बोए और भाजपा ने इन सब मुद्दों की फसल काटी।

इसका यह अर्थ नहीं है कि संसदीय प्रणाली होने का कोई परिणाम नहीं है तथा इस प्रणाली में होने वाले चुनावों का बहिष्कार कर देना चाहिए। निःसंदेह एक ऐसा राजनीतिक दल जो सांप्रदायिक है और फासीवादी है तथा किसी अवसरवादी, सांप्रदायिक पार्टी में अंतर है। निःसंदेह एक ऐसी राजनीति जो खुलेआम घृणा फैलाती है और ऐसी राजनीति जो लोगों को एक-दूसरे के खिलाफ करती है में अंतर है।

एक ऐसी धरोहर जिससे लोगों को दो प्रकार की धाराओं का सम्मान मिला है, हमारे सामने है। बीच के अंतर के चलते संसदीय प्रजातंत्र विचार व्यक्त करने के लिए बहुत अच्छा अवसर प्रदान कर सकता है। चुनावों के समय जिस प्रकार का उन्मादी वातावरण तैयार किया जाता है उसमें मीडिया का योग है। प्रत्येक व्यक्ति को चुनाव संबंधी जानकारी को प्राप्त करने के लिए उत्साह होता है। यह बात दूसरी है कि चाहे जो पार्टी जीते हर हालत में यथास्थितिवाद बिना किसी चुनौती के अपनी जगह मौजूद रहता है। किसी भी राजनीतिक दल के चुनाव प्रचार में संसद द्वारा पोटा को समाप्त किए जाने की बात नहीं की गई है। सभी राजनीतिक कदल जानते हैं कि सजा चलाने के लिए उन्हें पोटा जैसे कानून की जरूरत है।

चुनाव प्रचार के दौरान चाहे कुछ भी कहा जाय या विपक्ष में रहते हुए लोग-बाग चाहे जो कहें, चाहे वे दक्षिणपंथी हो चाहे वामपंथी हो चाहे वह मध्यमार्गी हो या प्रतिदिन रंग पलटते हों, कोई भी राजनीतिक दल नव उदारवाद के विरोध में नहीं कह पाया। राजनीतिक दलों के अंदर से प्रगतिशीलता कभी उभरकर नहीं आई है।

व्यक्तिगत रूप में मैं यह विश्वास नहीं करती, कि चुनावों में सम्मिलित होकर एक वैकल्पिक राजनीति हो सकती है। इसलिए नहीं कि मैं मध्यमवर्गीय हूं। तोड़े मरोड़े गए विचारों के अनुसार राजनीति को गंदी कहो, या यह कहूं कि सभी राजनीतिक दल भ्रष्ट हैं लेकिन मेरा यह विश्वास इन सबसे अलग है। बजाय कमज़ोर तर्कों के एक मजबूत नीतिपूर्ण संघर्ष की आवश्यकता है।

नवउदारवाद और सांप्रदायिक फ़ासीवाद के आक्रमण गरीबों और अल्पसंख्यक समुदायों पर अधिक है। जैसे-ज़ैसे समय बीतता जा रहा है ये वर्ग कमजोर पर कमजोर होते जा रहे हैं। नवउदारवाद गरीब-अमीर के बीच खाई को और अधिक चौड़ा कर रहा है। किसी भी राजनीतिक दल के लिए यह प्रदर्शन करना कि गरीबों और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जाएगी महज बकवास है। किसी एक वर्ग के हित की पूर्ति दूसरे वर्ग के हित की कीमत पर ही हो सकती है।

यदि मैं एक अमीर भारतीय हूं तो मैं मेरे हित किसी ग़रीब किसान जो आंध्रप्रदेश का रहने वाला है के साथ जुड़ नहीं सकते।

कोई भी राजनीतिक दल गरीबों के बारे में चर्चा करेगा–हमेशा गरीब रहेगा। एक राजनीतिक दल जिसके पास बहुत थोड़ा धन है उसके लिए बिना धन की पूर्ति के चुनाव लड़ना संभव नहीं। जाने-पहचाने कार्य कर्ताओं को सदन में भेजने की मुहिम चली है लेकिन उसका कोई अर्थ नहीं है। यह सब कुछ एक व्यक्ति के करिश्मे पर निर्भर है। और इस प्रकार की राजनीति में व्यक्तिगत रूप से व्यापक परिवर्तन लाना संभव नहीं है।

भारत का यह गरीब बिल्कुल ऐसी स्थिति भी नहीं है जो एक कमजोर की होती है। गरीब की स्थिति कार्यालयों में, भवनों और न्यायालयों में कमज़ोर है, लेकिन खेतों में, पहाड़ में घाटियों में शहर की गलियों में तथा अन्य क्षेत्रों में कमजोर नहीं। ये ही वो जगह है, जहां पर समझौते किए जाने चाहिएं ये ही वे जगह है जहां संघर्ष किया जाना चाहिए।

अधिकार–अधिकारों के मामले अब हिंदू अधिकारों के रूप में देखे जाने लगे हैं। जब कभी भी कोई व्यक्ति इस देश के बारे में सोचता है तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह कठोर मेहनत करने के लिए तैयार नहीं है। जैसे-जैसे राज्य अपने उत्तरदायित्वों को विशेष रूप से स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कल्याण कार्यों से हटा रहा है संघ परिवार के सिपाही इन क्षेत्रों में प्रवेश कर रहे हैं। हजारों शाखाएं उस प्रचार में व्यस्त हैं, जो उनके स्कूलों, अस्पतालों, चिकित्सालयों, एम्बूलेंस सेवाओं, अपदा प्रबंधनों के माध्यम से किए जाते हैं। ये लोग शक्तिहीनता का अर्थ समझते हैं। वे यह भी समझते हैं कि विशेष रूप से शक्तिहीन की इच्छाएं दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ जुड़ी हुई है। ऐसे लोगों के लिए भावनात्मक तथा आत्मिक सहारे की आवश्यकता है। पारम्परिक मुख्यधारा में वामपंथी अभी भी राजनीतिक शक्ति को छीनने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन किसी जगह पर वे झुकने के लिए अथवा सहमत होने के लिए तैयार नहीं। वही पुराने घिसे-पिटे तर्कों के ऊपर जमे हुए हैं और इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं जो कम ही लोग समझ सकते हैं।

ऐसे कुछ लोग जो संघ परिवार के प्रहारों को चुनौतियां दे सकते हैं वे लोग ज़मीनी सतह पर प्रतिरोध आंदोलन चला रहे हैं और सारे देश में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं और मूलभूत अधिकारों के हनन के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। ये वे संघर्ष हैं जो विकास के गलत प्रारूप के कारण उत्पन्न हुए हैं। इनमें से अधिकांश आंदोलन अकेलेपन के आंदोलन हैं। (इन आरोपों के बावजूद कि ऐसे आंदोलन विदेशी धन पर चल रहे हैं या आंदोलनकर्ता विदेशी एजेंट हैं) ये आंदोलन बिना किसी धन, बिना किसी स्रोतों के काम कर रहे हैं। आंदोलन बड़े ज़ोरदार तरीके से लड़ाई लड़ रहे हैं। उनके पांव मजबूती से जमे हुए हैं और जो हताशावाली सत्यता है उससे वे भलीभांति परिचित हैं। अगर वे एक-दूसरे के साथ मिल जाएं और उन्हें सहयोग दिया जाए या मजबूती दी जाए तो वे एक ऐसी ताक़त में बदल सकते हैं जिनका कोई मुकाबला नहीं हो सकता। उनके द्वारा जब लड़ाई लड़ी जाएगी तब वह आदर्श लड़ाई होगी और वह लड़ाई रूढ़िवादी विचारधाराओं से अलग होगी।

ऐसे समय में जब अवसरवादिता सबकुछ है, जब आशाएं समाप्त हो चुकी हैं, जब प्रत्येक तथ्य कथ्य एक सनकी निरे व्यापारिक कार्यकलापों में परिवर्तित हो गए हैं तब हमें एक सपना देखने का और एक रूमानियत को प्राप्त करने का साहस होना चाहिए। एक ऐसे विश्वास की रूमानियत जिसमें न्याय है, स्वतंत्रता है, सम्मान है और उद्देश्य है जो सबके लिए है। हम लोगों को एक समान कारण में विश्वास रखना होगा और उसके लिए हमें यह समझना होगा कि यह प्रजातांत्रिक तंत्र कैसे किसके लिए किसके विरुद्ध काम करता है। तंत्र का कौन समर्थन करता है और किसको इससे लाभ होता है। देश में बहुत से स्थानों पर अहिंसक प्रतिरोधात्मक आंदोलन अकेले चल रहे हैं। आंदोलनकर्ताओं की यह समझ

कि विशेष हितों के लिए की जाने वाली राजनीति का अपना एक स्थान है, एक समय है—पर्याप्त नहीं है। उन्हें ऐसा लगता है कि वे अकेले पड़ गए हैं, उन्हें कोने में ढकेल दिया गया है, पर बौद्धिकता इस बात की इजाजत नहीं देती कि नीति के रूप में इस प्रकार के आंदोलनों को छोड़ दिया जाय। यह अच्छा होगा कि अब गंभीर आत्मविश्लेषण किया जाए। हमको दृष्टि चाहिए। हम लोगों को इस बारे में आश्वस्त होना पड़ेगा। जो लोग यह कह रहे हैं हमें प्रजातंत्र को पुनः प्राप्त करना है, वे लोग समतावादी और प्रजातांत्रिक हैं। अपने कार्य संचालन के लिए जो पद्धति हम चाहते हैं उसमें ऐसा करना आवश्यक है। अगर हमारा संघर्ष विचारधारात्मक है तो हमको उन अंतर्विरोधी दृष्टियों को देखना पड़ेगा। उदाहरण के लिए जो लोग संप्रदायवाद के विरुद्ध लड़ रहे हैं वे आर्थिक अन्यायों के प्रति अपनी आंखें नहीं मूंद सकते हैं। जो लोग बांधों, विकास कार्यों के विरुद्ध लड़ रहे हैं वे जाति, राजनीति एवं संप्रदायवाद के प्रति आंखें नहीं मूंद सकते। अपने प्रभाव क्षेत्रों में इन सभी तथ्यों के विरुद्ध लड़ना होगा। यदि अवसरवाद तेज़ी से काम करने में बाधा है और हमारे विश्वास की क़ीमत पर आघात करने का मौक़ा ढूंढ़ता है तो बेहतर है कि इसे मुख्यधारा की राजनीति से हटा दिया जाय। सभी के लिए न्याय और समान अधिकार होने आवश्यक हैं—ऐसा न्याय और अधिकार जो केवल विशेष हित समूह के लिए हों—इस संबंध में कोई समझौता नहीं किया जा सकता।

हमने अहिंसात्मक प्रतिरोध को अच्छा महसूस करने वाले राजनीतिक रंगमंच के साथ अपने आपको जोड़ लिया है जो मीडिया के लिए भी महत्वपूर्ण अवसर है।

यह आवश्यक है कि हम तत्काल विवेचना करें कि ये संघर्ष प्रतिरोधात्मक संघर्ष हों और समाज के विरुद्ध हितों को चोट पहुंचाएं। हमें याद रखना चाहिए कि दांडी यात्रा एक अच्छा राजनीतिक रंगमंच ही नहीं था, ब्रिटिश शासन के लिए आर्थिक चुभन के बराबर था।

हमें राजनीति की पुनः परिभाषा करनी होगी। सिविल सोसायटी के एन.जी.ओकरण की प्रक्रिया एक विरुद्ध दिशा में चले जाना है। यह प्रक्रिया हमें राजनीति से दूर भगा रही है और हम लोगों को पुरानी आश्रितताओं पर केंद्रित कर रही है। हम लोगों को सिविल नारफानी का अर्थ समझना पड़ेगा।

संभवतः हमको लोकसभा के बाहर छाया संसद चाहिए जिसके बिना और जिसके सहयोग के बिना संसद आसानी से कार्य नहीं कर पाएगी। यह संसद भूमिगत नगाड़ों की आवाज निकालेगी, बौद्धिकता और सूचनाओं में भागीदारी करेगी और मुख्यधारा की मीडिया से अलग निर्भीकता से, बिना किसी हिंसा के कार्य करेगी। हम लोगों को यह निर्णय लेना चाहिए कि उस यंत्र का विकल्प क्या हो जो हम लोगों को हड़प रहा है।

समय बीता जा रहा है। जब यह सबकुछ लिखा जा रहा है हिंसा का चक्र बड़ा होता जा रहा है। दोनों ही तरफ़ से परिवर्तन संभव है। या तो यह हिंसक या रक्तरंजित होगा या शांतिपूर्ण तथा सुंदर होगा। यह आपकी मर्जी है कि आप इसे किस रूप में स्वीकारते हैं।

(साभार : 'हिन्दू')